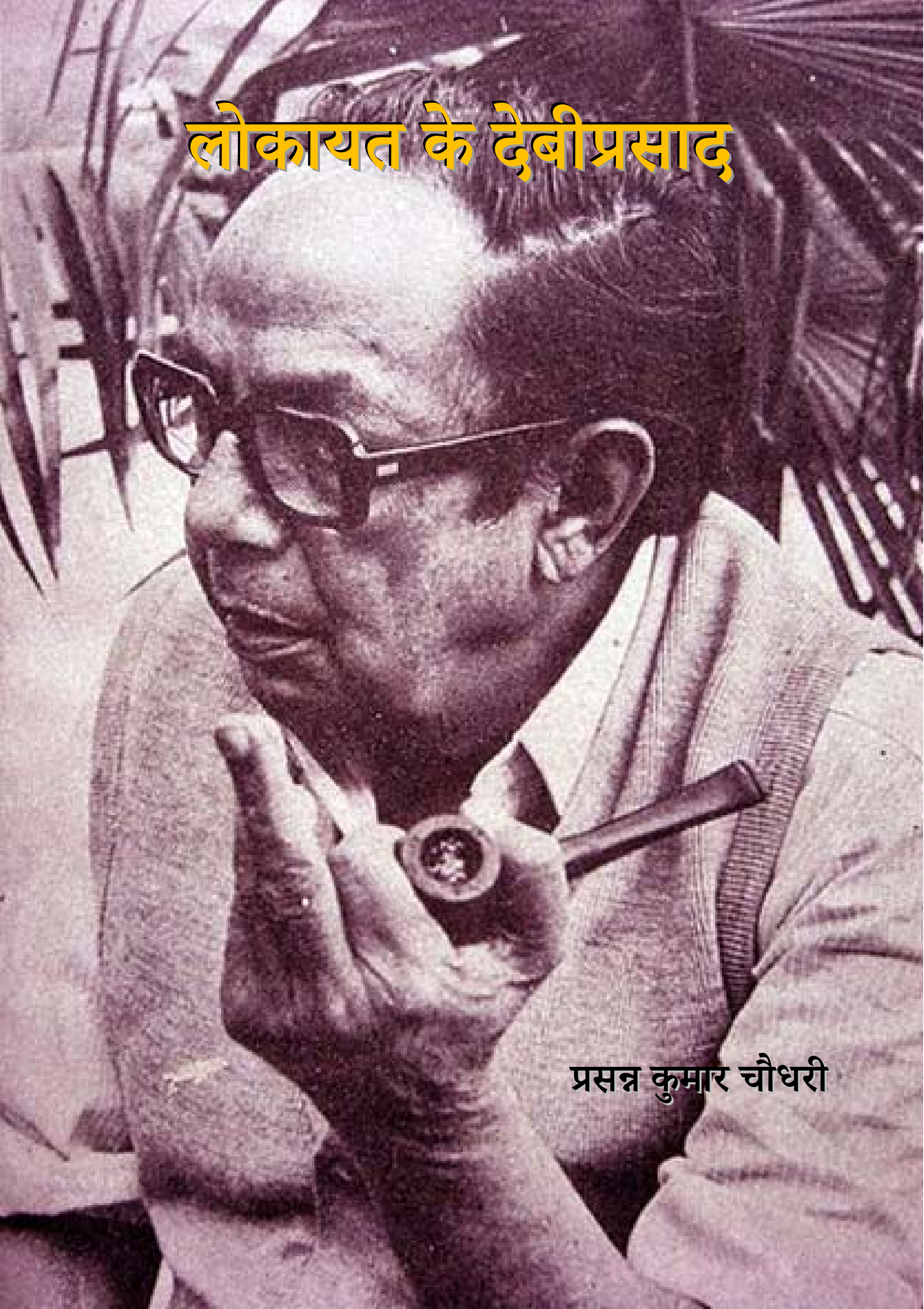
लोकायत के देबीप्रसाद



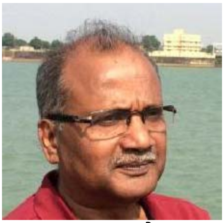
प्रसन्न कुमार चौधरी

लोकायत के देबीप्रसाद, लेखक: प्रसन्न कुमार चौधरी

Lokayat ke Debiprasad by Prasanna Kumar Choudhary

ई-प्रकाशन: 2019

आवरण फोटो: इन्टरनेट से साभार



प्रसन्न कुमार चौधरी

20 अगस्त 1955 को बिहार के दरभांगा जिले के बाउर गांव में जन्म. झारखण्ड के देवघर में निवास. समाजविज्ञान, अर्थशास्त्र, साहित्य, समाज और दर्शन पर हिंदी और अंग्रेजी में गंभीर लेखन, प्रकाशित कृतियां: सृष्टि-चक्र (काव्य-कृति); अनन्त का छंद (एक तत्व शास्त्रीय विमर्श); बिहार में सामाजिक परिवर्तन के कुछ आयाम (सह-लेखन); स्वर्ग पर धावा: बिहार में दलित आन्दोलन (सह-लेखन); 1857: बिहार-झारखण्ड में महायुद्ध (सह-लेखन); 1857: बिहार में महायुद्ध (सह-लेखन); अतिक्रमण की अंतर्यात्रा: ज्ञान की समीक्षा का एक प्रयास; पिकेटी, मार्क्स एण्ड कैपिटल (अंग्रेजी); जेनेसिस ऑफ कैपिटल इन इण्ण्डया (अंग्रेजी); कौतुक के पर्वत का सैलानी (किंडल ई-बुक); राष्ट्र राज्य और समाज (किंडल ई-बुक); मन एव मनुष्याणां.. (किंडल ई-बुक). इनके अलावा हिंदी और अंग्रेजी में अनेक लेख विभिन्न पुस्तकों और पत्रिकाओं में प्रकाशित.

एक विचार की पुनर्रचना

यह एक विचार की खोज थी. इस विचार-प्रणाली के साक्ष्य क़रीब तीन हज़ार वर्षों के हमारे इतिहास के पन्नों में बिखरे थे- ज़्यादातर उसके विरोधियों तथा निन्दकों की रचनाओं में. लेकिन अन्य विचार-प्रणालियों की तरह इस विचार-प्रणाली का कोई मौलिक अथवा प्रामाणिक ग्रंथ उपलब्ध नहीं था. वैसे, कुछेक विवरणों से ऐसे किसी प्रामाणिक ग्रंथ होने का साक्ष्य अवश्य मिलता था. इस विचार-प्रणाली का प्रचलित नाम **लोकायत** था. 'लोकायत' शब्द से ही इस मत की लोक में व्याप्ति का संकेत मिलता है (**लोकेषु आयतः लोकायत**). **हरिभद्र** (आठवीं सदी) अपने **षड् दर्शनसमुच्चय** में 'इन्द्रिय-ग्राह्य सारी चीजों को लोक' के रूप में परिभाषित करते हैं. टीकाकार **मणिभद्र** इसे और स्पष्ट करते हुए 'समग्र भौतिक अस्तित्व को- पदार्थ-सार्थ अथवा पदार्थ-समूह को लोक' की संज्ञा देते हैं. इस मत को **बार्हस्पत्य** के नाम से भी जाना जाता था, और देव-गुरु **बृहस्पति** को इस विचार-प्रणाली का सूत्रधार कहा जाता है. **बृहस्पति-सूत्र** नामक अनुपलब्ध ग्रंथ को इस विचार का मौलिक ग्रंथ माना जाता है. इसका एक और प्रचलित नाम **चार्वाक-मत** भी है. **महाभारत** में इस मत के प्रवर्तक जिन्हें (ब्राह्मण के वेश में राक्षस) **चार्वाक** कहा गया है, को धर्मराज **युधिष्ठिर** के समक्ष ब्राह्मणों द्वारा जलाकर भस्म कर देने की कथा भी कही गई है.[1] **कौटिल्य** (371-283 ई.पू.) अपने **अर्थशास्त्र** में जिन तीन दर्शनों की चर्चा करते हैं, उनमें (सांख्य और योग के साथ) लोकायत भी है और इसे **अन्वीक्षिकी** (तर्क-विज्ञान) कहा गया है. तर्क-विज्ञान को **हेतु-विद्या** भी कहा जाता है और कुछेक विवरणों में लोकायतिकों को **हेतुक** के रूप में भी संबोधित किया गया है.

ब्रह्मसूत्र पर अपनी टीका में **शंकराचार्य** (आठवीं सदी) ने लोकायतिकों की तुलना **प्रकृत-जनों** (विवेक-संस्कारहीन भीड़) से की है. कुछ ऐसी ही टिप्पणी (हरिभद्र की 'षड् दर्शनसमुच्चय' पर अपनी टीका में) 14वीं सदी के जैन टीकाकार **गुणरत्न** ने भी की है.

बहरहाल, ऐसे कुछ साक्ष्य भी थे जिससे अतीत में इस विचार के प्रतिष्ठित होने का प्रमाण भी मिलता था और ब्राह्मण तथा बौद्ध विचारकों के लिए इसका ज्ञान हासिल करना आवश्यक माना जाता था. महाभारत (वनपर्व) में ही **द्रौपदी** युधिष्ठिर को बताती है कि उनके पिता **द्रुपद** ने इस विचार-प्रणाली में पारंगत एक ब्राह्मण को अपने साथ रहने के लिए आमंत्रित किया था- उनके पिता तथा भाई ने उन्हीं से बार्हस्पत्य-मत की शिक्षा ग्रहण की थी. पिता की गोद में बैठकर बालिका द्रौपदी भी उनका प्रवचन सुना करती थी. वैसे, द्रौपदी का यह संस्मरण सुनकर युधिष्ठिर को कोई ख़ुशी नहीं हुई; उन्होंने द्रौपदी पर शास्त्रविरोधी विचारों से प्रभावित होने का आरोप तक मढ़ दिया. इसी तरह, **मिलिन्द-पन्हो** में बौद्ध दार्शनिक **नागसेन** (150 ई.पू.) को लोकायत का ज्ञाता कहा गया है.

पाँचवीं सदी के बौद्ध टीकाकार **बुद्धघोष** (पाँचवीं सदी) यह सुझाते हैं कि 'आयतः' शब्द का प्रयोग 'आयतन' के अर्थ में भी किया जा सकता है. आयतन से उनका आशय था 'आधार'- यानी लोकायत एक ऐसा दर्शन था जिसका आधार भौतिक जगत अथवा 'लोक' था. 'षड् दर्शनसमुच्चय' की अपनी टीका में मणिभद्र तो लोकायतिकों द्वारा इन्द्रिय-ग्राह्य ज्ञान पर ज़ोर देने को सामाजिक-राजनीतिक आयाम प्रदान करते हैं. उनके अनुसार, धर्म की आड़ में धूर्त्त ठग शास्त्रों आदि का निरर्थक हवाला देकर लोगों के मन में स्वर्ग-प्राप्ति का भ्रम फैलाकर उनका शोषण करते थे- इन्द्रिय-ग्राह्य ज्ञान पर ज़ोर देकर लोकायतिक लोगों को इस तरह के शोषण से आग़ाह करना चाहते थे.

किसी-किसी रचना में **लोकायत-शास्त्र** की चर्चा मिलती है और उस शास्त्र से छिटपुट उद्धरण भी. माध्यमिक शाखा के बौद्ध विचारक तथा नालंदा महाविहार के अध्यापक **चन्द्रकीर्ति** (सातवीं सदी) के **प्रज्ञा-शास्त्र** में जहाँ किसी लोकायत-शास्त्र का उद्धरण दिया गया है, वहीं **आर्यदेव** (तीसरी सदी) के **सत्-शास्त्र** में **बृहस्पति-सूत्र** को उद्धृत किया गया है. बहरहाल, इस मामले में सबसे प्रामाणिक साक्ष्य सातवीं सदी के **पुरन्दर** का है- पुरन्दर स्वयं लोकायतिक थे, इसलिए उनके सूत्र को लोकायतिकों का प्रामाणिक पक्ष माना जा सकता है. जैन विद्वान **वादिदेव सूरी** ने भी पुरन्दर का एक सूत्र उद्धृत किया है.

लोकायतिकों के बारे में यह कहा जाता था कि वे इन्द्रिय-गोचर ज्ञान को ही प्रमाण मानते थे, और अनुमान को भी ख़ारिज करते थे. पुरन्दर इसका खण्डन करते हैं और यह

स्पष्ट करते हैं कि लोकायतिक सभी सांसारिक/इहलौकिक चीजों की ज्ञान-प्राप्ति में अनुमान की उपयोगिता को स्वीकारते हैं, क्योंकि ये सारी चीजें इन्द्रिय-जन्य अनुभव के दायरे में आती हैं. लेकिन परलोक, मरणोपरान्त जीवन, कर्म-फल-आधारित जन्म-पुनर्जन्म जैसे सिद्धान्तों के मामले में अनुमान को मानने से वे इन्कार करते हैं क्योंकि ये सारी चीजें इन्द्रिय-जन्य अनुभव का विषय नहीं हैं (कोई यह बताने नहीं आता कि मृत्यु के बाद उसे स्वर्ग की प्राप्ति हुई है). कुल मिलाकर, लोकायतिकों के लिए अनुमान अनुभव-जन्य जगत के दायरे में ही मान्य था, अन्यथा नहीं.

बहरहाल, लोकायत के बारे में जिस ग्रंथ को आधार मानकर आधुनिक समय में कतिपय विद्वानों ने अपनी राय बनाई है, वह है **मध्वाचार्य** (14वीं सदी) की रचना **सर्वदर्शनसंग्रह**. मध्वाचार्य अपने समय में **वेदान्त** के काफ़ी प्रतिष्ठित-सम्मानित विद्वान ही नहीं थे, बल्कि उतने ही प्रभावशाली अपने भाई **सायण** के साथ **विजयनगर साम्राज्य** के संस्थापक-मंत्री भी थे. ब्राह्मण-कुलीन वर्ग के प्रभावशाली प्रतिनिधि के रूप में उनका दर्शन स्वभावतः उनके व्यावहारिक राजनीतिक क्रियाकलापों का एक वैचारिक आयाम था. एक विचार-प्रणाली के रूप में लोकायत के उद्भव और उनके बीच कम-से-कम दो हजार वर्षों का फ़ासला था, तथापि लोकायत के बारे में उनकी बनाई छवि ही विद्वानों के बीच ज़्यादा प्रचलित रही है. लोकायत के बारे में मध्वाचार्य ने जो कुछ कहा है, वह सबका सब ग़लत है- ऐसा नहीं है. **लोकायतिक ईश्वर को नहीं मानते थे, शास्त्रों की खिल्ली उड़ाते थे, बलि में उनका विश्वास नहीं था और वे परलोक का भी खण्डन करते थे- 'न स्वर्ग है, न अपवर्ग, न परलोक में जानेवाली आत्मा; वर्ण और आश्रम आदि की सारी क्रियाएँ निष्फल हैं; अग्निहोत्र, तीनों वेद .. बुद्धि और पौरुष से हीन लोगों की जीविका है.' लोकायतिक विश्व की सृष्टि को स्वभाव से ही मानते थे, और चेतना को वे चार भूतों- पृथ्वी, जल, वायु तथा अग्नि- से उसी तरह उत्पन्न बताते थे जैसे विभिन्न उपयोगी सामग्रियों से शराब की शक्ति.** लोकायतिकों के बारे में अन्य ग्रंथों में भी इसी तरह की बातें मिलती हैं. बहरहाल, समग्र रूप से लोकायत के बारे में मध्वाचार्य जो छवि प्रस्तुत करते हैं, उसमें कुलीन वेदान्तीवाला उनका पूर्वाग्रह स्वभावतः सामने आ जाता है. **लोकायत की यह प्रचलित छवि एक भोगवादी 'ऋणंकृत्वा घृतम् पिवेत्' वाली छवि है.**[2]

लोकायत की वास्तविक समझ हासिल करने के लिए मध्वाचार्य की बाधा पार करना, प्रचलित भोगवादी छवि से परे जाकर छानबीन करना ज़रूरी था. ग्रंथों में वर्णित संदर्भों से आगे जाकर लोकजीवन के धरातल पर इसकी पड़ताल करनी थी. लोकायत, जैसा कि उसके नाम से ही स्पष्ट था, लोक में प्रचलित एक विचार-परम्परा थी. इसलिए इस विचार-प्रणाली की पुनर्रचना के लिए प्राचीन लोक-जीवन में, उसके उत्पादक क्रिया-कलापों तथा रीति-रिवाज़ों में झांकना ज़रूरी था. लोकायत की चर्चा चूँकि बौद्ध-ग्रंथों में भी बार-बार आती है, इसका अर्थ यह था कि इस विचार-परम्परा की जड़ें बुद्ध-पूर्व के सामाजिक जीवन में, प्राचीन गण-समाज में मौज़ूद थीं.

ऋग्वेद के आरम्भिक मण्डलों में, पुराने उपनिषदों में, हम जिस **असुर-दृष्टि** का साक्षात् करते हैं, लोकायत के तार उस दृष्टि से जुड़े प्रतीत होते थे. असुर **देहवादी** थे- जो बाहर था, वही देह में था; उनके लिए देह तथा आत्मा अलग-अलग श्रेणियाँ नहीं थीं. **ब्रह्म-सूत्र** में चार्वाक-मत की आलोचना इसी आधार पर की गई है- एक आत्मनः शरीरे भावात् (वे शरीर से अलग आत्मा के अस्तित्व से इन्कार करते थे, क्योंकि आत्मा का अस्तित्व तभी तक है जब तक शरीर है).[3] इसके अलावा, असुर बलि के कर्मकाण्ड में विश्वास तो नहीं ही करते थे, ऐसा कहा जाता था कि वे बलि की सामग्री ख़ुद खा जाते थे, और इस तरह यज्ञ में विघ्न डालते थे. कुछ जगहों पर ऐसे विवरण भी मिलते हैं कि बलि खा जाने (बलि का चर्वण करने) के कारण इस मत के प्रतिनिधि को चार्वाक कहा जाता था.

गणों की दुनिया में कदम रखते ही हमारे सामने एक नया लोक उद्घाटित होता है- यह गण-चिह्नों (टोटेम), गणपतियों, मातृसत्ताक कृषि-समाजों तथा पितृसत्ताक पशुपालक समाजों, और तंत्र की दुनिया थी. यहाँ हमारा सामना अन्न के लिए सामूहिक गान गाते **श्वानों** से होता है, और देखते-देखते हम ख़ुद को विभिन्न प्राणियों से घिरा पाते हैं. वेदों की विभिन्न शाखाओं, उपनिषदों के नामों में हम इन्हीं प्राणी-नामों का साक्षात् करते हैं- ऋग्वेद की एकमात्र विद्यमान शाखा शाकल (सर्प की एक प्रजाति के नाम पर), सामवेद की एक शाखा शार्दुलीय (शार्दुल/बाघ), कृष्ण-यजुर्वेद संहिता की एक शाखा तैत्तिरीय (तित्तिर), अथर्ववेद की एक शाखा शौनक (श्वान), उपनिषद श्वेताश्वतर (श्वेत खच्चर), माण्डुक्य (मण्डुक/मेंढ़क), कौषितकी (उल्लू), आदि. इसके अलावा, छागलेय, मत्स्य, कश्यप,

गोतम (वृषभ), वत्स, शुनक, इभ (हाथी) जैसे प्राणी नाम तो बहुप्रचलित थे ही. इन प्राणी-नाम वाले गण-चिह्नों से हम गणपतियों के संसार में दाख़िल होते हैं- विघ्नकर्ता गणपतियों का सिद्धिदाता गणेश में रूपान्तरण अभी बाक़ी था. फिर इन गणों की **तंत्र** की अपनी दुनिया थी.

प्राचीन जनों ने **सह-संबंधों और अनुकरण के जरिये घटनाक्रम को नियंत्रित करने की अपनी विशिष्ट पद्धति (मैज़िक) विकसित कर ली थी**- यह देवताओं को प्रसन्न करने तथा उनसे इच्छित फल की प्राप्ति के लिए किये जानेवाले बलि के कर्मकाण्ड से भिन्न पद्धति थी. मानवीय प्रजनन-क्रिया तथा प्राकृतिक प्रजनन-क्रिया (उर्वरता) के बीच सह-संबंध का निरूपण और फिर मानवीय यौन-क्रिया के अनुकरण के जरिये प्राकृतिक उत्पादक क्रिया को नियंत्रित करने की तांत्रिक पद्धति के साक्ष्य (मातृसत्ताक समाजों में) **योनि** तथा (पितृसत्ताक समाजों में) **शिश्न** के विशिष्ट प्रतीकों में मिलते हैं- इन दो प्रतीकों का समन्वय आगे चलकर **शिवलिंग** के प्रतीक में घटित होता है (गौरी-पट पर स्थापित शिवलिंग के रूप में).

आयतः का प्रयोग, जैसा कि हम पहले देख चुके हैं, आयतन के अर्थ में भी किया जाता है. आयतन का एक पाठ **क्षेत्र** का भी है, और तंत्र में क्षेत्र का अर्थ है योनि. कई विद्वान यह मानते हैं कि जहाँ गणसमाजों के तंत्र के मूल में दरअसल असुरों का देहवाद है, वहीं तंत्र के गर्भ से **सांख्य** और **योग** जैसे परिष्कृत दर्शन का विकास हुआ (वे सांख्य और योग को वेद से पृथक मानते हैं). सांख्य का केन्द्रीय सक्रिय तत्त्व है **प्रकृति**, उसकी प्रजनन शक्ति (मातृ-शक्ति), और योग **देह की साधना** है (देह को साधना प्रकृत घटना-क्रम को नियंत्रित करना है).

बहरहाल, निरन्तर विस्तार पाते कृषि-क्षेत्रों पर आधारित राजतंत्रों तथा साम्राज्यों के हिंसक अभियानों, और गणों में विभिन्न उपायों से फूट डालने के प्रयासों के परिणामस्वरूप गण-क्षेत्र सिमटते गये, उनके विघटन की प्रक्रिया तेज हुई, और इसी के साथ गणों की संस्थाओं, उनके जीवन-मूल्य तथा जीवन-दर्शन का भी पतन घटित हुआ. गणों के सामुदायिक जीवन का स्थान अब उत्पादन-प्रक्रिया से अलग हो चुके सम्पत्तिशाली वर्गों के

वर्चस्ववाले जनपदीय समाजों ने ले लिया. जनजातीय क्षेत्रों में कृषि-अर्थव्यवस्था के प्रसार को (डी.डी. कोसाम्बी जैसे) कई विद्वान भारत की पहली बड़ी सामाजिक क्रांति मानते हैं.

गणों के विघटन और कृषि-राजतंत्रों के हिंसक अभियानों के उथल-पुथल भरे दौर में जहाँ **बुद्ध** भिक्षु-संघ के रूप में गणों की स्मृति को जीवित रखने की कोशिश करते हैं, वहीं **आजीवक** नियति के सामने घुटने टेक देते हैं.

इसी के साथ, **समाज के स्तर पर ब्राह्मण-क्षत्रिय वर्चस्व पर आधारित जाति-प्रथा का उत्थान होता है, और दर्शन के क्षेत्र में आत्मा, परलोक और पुनर्जन्म के सिद्धान्त तथा तर्क-बुद्धिसंगत ज्ञान की जगह शास्त्र-प्रमाण के भाववादी दर्शन की विभिन्न शाखाएँ वर्चस्वशाली वर्गों के दर्शन के रूप में अवतरित होती हैं.** इस भाववादी दर्शन का सर्वोच्च विकास शंकराचार्य के अद्वैत-वेदान्त में होता है- हालांकि बाद के समय में वेदान्त-दर्शन की भी नई-नई शाखाएँ सामने आती हैं.

बहरहाल, सभी मानव-समुदायों का विकास गणों से ही हुआ है, इसलिए इन समुदायों के वैचारिक-दार्शनिक ग्रंथों के प्राचीन पाठों में तथा उनके कर्मकाण्डों के कतिपय अंशों में लोकायत की, आदिम तंत्र की स्मृति, उसके अवशेष दिख जाते हैं. ऋग्वेद के आरम्भिक मण्डलों में, ऋत् के स्वामी **वरुण** और **माया** के प्रसंग में, छांदोग्य, बृहदारण्यक, तैत्तिरीय आदि उपनिषदों के कुछ अंशों में हम उस स्मृति का साक्षात् कर सकते हैं. वैदिक कर्मकाण्डों की प्राचीन परतों में हमें आदिम तंत्र की झलक मिल जाती है.

क़रीब तीन हज़ार वर्षों के इतिहास के पृष्ठों पर बिखरे संदर्भों से, लोकजीवन की परम्पराओं तथा कर्मकाण्डों के प्रकट-अप्रकट साक्ष्यों से, अस्पष्ट सूत्रों तथा टूटी-फूटी कड़ियों से **एक विचार-परम्परा की पुनर्रचना करनी थी**, अथवा (**कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य** के शब्दों में) **पुनर्रचनात्मक व्याख्या का चुनौतिपूर्ण बौद्धिक कार्य संपन्न करना था**. एक पुरात्त्ववेत्ता हज़ारों वर्ष पुराने भग्नावशेषों से एक विलुप्त नगर की पुनर्रचना करता है तो उसके पास भौतिक अवशेष होते हैं- यह कम चुनौतिपूर्ण कार्य नहीं होता. यहाँ तो हज़ारों वर्षों में बिखरे वैचारिक अवशेषों से (वह भी ज़्यादातर विरोधियों की रचनाओं में पाये

जानेवाले अवशेषों से) एक विचार परम्परा की इमारत खड़ी करनी थी- यह कितना चुनौतिपूर्ण कार्य था, इसका सहज ही अंदाज़ा लगाया जा सकता है.

इस चुनौतिपूर्ण बौद्धिक कार्य को, लोकायत की विचार-परम्परा को पुनर्रचित करने का श्रेय जाता है **देबीप्रसाद चट्टोपाध्याय** (1918-1993) को. उनकी '**लोकायतः ए स्टडी इन एंशिएण्ट इंडियन मैटेरियरिज़्म**' (1959) भारतीय दार्शनिक-वैचारिक परम्पराओं के अध्ययन के इतिहास में विलक्षण योगदान है. चार खण्डों ('द प्रोब्लेम एण्ड द मेथड', 'द सोशल बैकग्राउण्ड', 'मैटेरियलिज़्म', 'आइडियलिज़्म') और आठ अध्यायों ('असुर-व्यू', 'द चांटिंग डॉग्स', 'गणपति', 'गौरी', 'तंत्र', 'सांख्य', 'संघ एण्ड नियति', 'वरुण एण्ड माया') में विभक्त 678 पृष्ठों के मूल पाठ वाली यह रचना उनके श्रमसाध्य अनुसंधान की प्रेरणादायक उपलब्धि है. ऊपर हमने जो विवरण दिया है, उसे उनकी इसी रचना पर विहंगम दृष्टिपात के मेरे दुस्साहस के रूप में पाठक देख सकते हैं.[4]

यह वर्ष (1918-19) उनका जन्मशताब्दी वर्ष है, और 'लोकायत' के प्रकाशन की साठवीं सालगिरह भी.

पुनर्रचना की चुनौतियाँ

‘लोकायत’ की पुनर्रचना का महत् कार्य हाथ में लेते समय देबीप्रसाद इसकी चुनौतियों के प्रति पूरी तरह सजग थे. पहली चुनौती तो ख़ुद लेखक से जुड़ी थी- आज का शोधकर्ता किसी प्राचीन विचार का अध्ययन करने के दौरान किस हद तक निष्पक्ष हो सकता है? आज के लेखक की अपनी कुछ मान्यताएँ हैं, अपने ‘पूर्वाग्रह’ हैं; क्या वह किसी विचार की ‘पुनर्रचनात्मक व्याख्या’ के क्रम में अपने इन वैचारिक आग्रहों से मुक्त हो सकता है? वे यह स्वीकार करते हैं कि इस तरह के अध्ययन में ‘पूरी तरह वस्तुगत’ नहीं हुआ जा सकता, और जो आधुनिक विद्वान पूरी निष्पक्षता का दावा करते हैं, वे ख़ुद अपने भ्रम के शिकार हैं. ब्रिटिश मार्क्सवादी विचारक **ज़ॉर्ज थॉमसन** (1903-1987) को उद्धृत करते हुए वे लिखते हैं, ‘अतीत का इतिहासकार वर्तमान का नागरिक है. एक नागरिक के रूप में अगर वे वर्तमान सामाजिक परिवर्तनों के प्रति उपेक्षा का भाव रखते हैं (अथवा कोई सरोकार नहीं दर्शाते) तो वे प्राचीन ग्रीक सभ्यता में भी कुछ स्थायी और निरपेक्ष रूप से मूल्यवान चीज ख़ोजना चाहेंगे जिसमें ख़ुद उनकी अपनी (यथास्थिति के प्रति) मौन स्वीकृति प्रतिबिम्बित हो और उसे मज़बूती मिले. लेकिन ऐसे दूसरे लोग जो यथास्थिति को स्वीकार नहीं करते, वे यूनान के इतिहास को निरन्तर परिवर्तन की प्रक्रिया के रूप में देखेंगे, और अगर ऐसा करने के क्रम में कुछ अन्तर्निहित नियमों का पता चलता है, तो इससे उन्हें वर्तमान समय में परिवर्तनकारी शक्तियों को समझने तथा उन्हें निर्देशित करने में मदद मिलेगी.’[5] इस प्रकार, देबीप्रसाद ‘वर्तमान के परिवर्तनकामी नागरिक’ के रूप में, अपने पूर्वाग्रहों के प्रति जिस हद तक सजग हुआ जा सकता है, उस हद तक सजग रहते हुए, अतीत के इतिहासकार की भूमिका निभाना चाहते थे.

देबीप्रसाद के सामने दूसरी चुनौती भी कुछ हद तक निजी चुनौती ही थी. भारतीय दर्शन के दो प्रख्यात इतिहासकार, प्रोफ़ेसर **सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त** (1887-1952) और

सर्वपल्ली राधाकृष्णन (1888-1975), उनके शिक्षक रह चुके थे. एस.एन. दासगुप्त उनके शोध-निर्देशक भी रह चुके थे. दोनों विद्वान अपनी-अपनी क़िताबों में लोकायत पर काफ़ी कुछ टिप्पणी कर चुके थे. राधाकृष्णन की क़िताब **'इंडियन फ़िलोसॉफ़ी'** (खण्ड 1, भाग 2) का पाँचवां अध्याय (**'मैटेरियलिज़्म'**, पृ. 271-285) तो इसी विषय पर केन्द्रित था. दोनों विद्वानों का अपना प्रभामण्डल था और देबीप्रसाद के मन में उनके प्रति काफ़ी सम्मान था. बहरहाल, भारतीय दार्शनिक परम्परा के एक उपेक्षित पक्ष- लोकायत- को इस परम्परा में समुचित स्थान तथा सम्मान दिलाने के जिस बौद्धिक कार्य को देबीप्रसाद सम्पन्न करना चाहते थे, उसके लिए उन्हें अपने इन दोनों शिक्षकों के साथ ज़िरह में उतरना था, उनसे एक स्वस्थ मुठभेड़ करनी थी. यह ज़िरह उनकी पूरी किताब में जगह-जगह देखी जा सकती है. इस सिलसिले में एक और महत्वपूर्ण नाम **हरप्रसाद शास्त्री** (1853-1931) का है- लोकायत पर उनकी एक किताब 1925 में ढाका से प्रकाशित हो चुकी थी.

ब्रिटिश उपनिवेशवाद के ख़िलाफ़ चल रहे स्वतंत्रता आन्दोलन की पृष्ठभूमि में और उसकी प्रेरणा से अनेक भारतीय विचारक, वैज्ञानिक, समाजशास्त्री और इतिहासकार उन दिनों ग्रीको-यूरोपियन नस्लीय 'श्रेष्ठता' को चुनौती देते हुए प्राचीन भारतीय वैचारिक-वैज्ञानिक परम्परा को स्थापित करने तथा मानवजाति के ज्ञान-कोश में उसके बहुमूल्य योगदान को समुचित प्रतिष्ठा दिलाने की दिशा में सक्रिय थे. इस मामले में अनेक प्रगतिशील पश्चिमी विद्वान भी अपनी यथोचित भूमिका निभा रहे थे. एस.एन. दासगुप्त की '**ए हिस्ट्री ऑफ इंडियन फ़िलोसॉफ़ी**' (1922-1955 के बीच पाँच खण्डों में प्रकाशित) और राधाकृष्णन की '**इंडियन फ़िलोसॉफ़ी**' (1923 में पहला और 1927 में दूसरा खण्ड प्रकाशित) को इसी दिशा में एक महत्वपूर्ण योगदान के रूप में देखा जा सकता है. दोनों किताबें भारतीय दर्शन में दिलचस्पी रखनेवाले देशी-विदेशी शोधार्थियों तथा पाठकों के लिए अनिवार्य संदर्भ-ग्रंथ थीं. इसी समय (1927 में) पुणे से प्रकाशित **एस.के. बेलवल्कर** और **आर.डी. रानाडे** की '**हिस्ट्री ऑफ इंडियन फ़िलोसॉफ़ी**' का भी यहाँ उल्लेख किया जा सकता है. भारतीय विचार-परम्परा का समग्रता में अध्ययन करने के अलावा इस परम्परा के अलग-अलग पक्षों पर भी कई अध्ययन इन्हीं दिनों सामने आने लगे थे- जैसे, बुद्ध-पूर्व की विचार-परम्परा, बौद्ध दर्शन, मीमांसा, वेदान्त, आदि. यहाँ हम इन अध्ययनों के

विस्तार में नहीं जाएँगे. बहरहाल, स्वतंत्रता आन्दोलन के दौरान विभिन्न सामाजिक आन्दोलनों से जुड़े ऐसे अग्रगामी विचारक भी थे जो वर्चस्वशाली श्रेष्ठतावादी ब्राह्मण परम्परा में उपेक्षित अथवा हाशिये पर डाल दी गई वैचारिक परम्पराओं से अपना नाता जोड़ रहे थे और उन परम्पराओं को भारतीय समाज में सम्मानजनक स्थान दिलाने के लिए प्रयासरत थे- यह आदिवासियों, शूद्रों तथा अन्य वंचित समुदायों में प्रचलित श्रमणों, विद्रोही और सुधारवादी संतों की समृद्ध वैचारिक परम्परा थी. उपनिवेश के रूप में राष्ट्रीय न्याय की मांग के साथ-साथ राष्ट्र के भीतर सामाजिक तथा वर्गीय न्याय की दावेदारी वैचारिक परम्परा के क्षेत्र में भी अपनी सशक्त उपस्थिति दर्ज़ कर रही थी.

डॉ. राधाकृष्णन का निजी झुकाव **अद्वैत वेदान्त** की ओर था (देबीप्रसाद का स्नातकोत्तर में स्पेशल पेपर वेदान्त दर्शन ही था). स्वभावतः देबीप्रसाद के अनुसार लोकायत तथा प्राचीन भारतीय भौतिकवाद के प्रति उनका दृष्टिकोण इसी वेदान्त से प्रभावित था (हम पहले ज़िक्र कर चुके हैं कि किस तरह लोकायत के प्रति धारणा बनाने में अधिकतर आधुनिक विद्वान मध्वाचार्य से प्रभावित रहे हैं). **देबीप्रसाद को लगता था कि प्राचीन भारतीय दर्शन का भौतिकवादी दृष्टिकोण से कोई अध्ययन नहीं किया गया है- वे इस अभाव को पूरा करना चाहते थे.** उनके अनुसार आधुनिक भौतिकवादी दृष्टिकोण का सबसे विकसित रूप मार्क्सवाद है- वे इसी मार्क्सवादी स्थिति से लोकायत का अध्ययन करना चाहते थे. **आधुनिक भौतिकवादी स्थिति से प्राचीन भारतीय भौतिकवाद का यह अध्ययन चूँकि सर्वथा अभिनव प्रयास था, इसलिए वे इसकी सीमाओं से भी अवगत थे.** क़िताब की भूमिका में वे यह स्पष्ट कर देते हैं कि इस अध्ययन को बहस के लिए एक मसौदा माना जा सकता है. ख़ासकर उनका मक़सद भौतिकवादी दृष्टि से बहस और आलोचना को प्रोत्साहित करना था.

बहरहाल, इस रचना में देबीप्रसाद भारतीय इतिहास तथा दर्शन के अपने समय के प्रतिष्ठित मार्क्सवादी विचारकों (**डी.डी. कोसाम्बी**, **राहुल सांकृत्यायन** आदि) से भी कतिपय प्रश्नों पर अपनी असहमति दर्ज़ करते हैं. यहाँ एक-दो उदाहरण देना ही पर्याप्त होगा. किताब के दूसरे अध्याय ('चांटिंग डॉग्स') में वे **राहुल सांकृत्यायन** (1893-1963) से बिल्कुल विपरीत मत रखते देखे जा सकते हैं. प्रसंग छांदोग्य उपनिषद् के प्रथम

अध्याय के अन्त में वर्णित सामगान गाते श्वानों का है. राहुल श्वान का शाब्दिक अर्थ लेते हैं और इस पूरे प्रसंग को सामगान का आलाप करनेवाले पुरोहितों के दिलचस्प मज़ाक के रूप में प्रस्तुत करते हैं :

> (छांदोग्य उपनिषद् के) प्रथम अध्याय के अन्त में दाल रोटी के लिए 'हावु' 'हावु' (सामगान का आलाप) करने वाले पुरोहितों का एक दिलचस्प मज़ाक किया गया है. **बक दाल्भ्य**- जिसका दूसरा नाम ग्लाव मैत्रेय भी था- कोई ऋषि था. वह वेदपाठ के लिए किसी एकांत स्थान में रह रहा था. उस समय एक सफेद कुत्ता वहाँ प्रकट हुआ. फिर कुछ और कुत्ते आ गये और उन्होंने सफेद कुत्ते से कहा कि हम भूखे हैं, तुम साम गाओ, शायद इससे हमें कुछ भोजन मिल जाए. सफेद कुत्ते ने दूसरे दिन आने के लिए कहा. दाल्भ्य ने कुत्तों की बात सुनी थी. वह भी सफेद कुत्ते के सामगान को सुनने के लिए उत्सुक था. दूसरे दिन उसने देखा कि कुत्ते आगे-पीछे एक की पूँछ दूसरे की मुँह में लिए बैठकर गा रहे थे- 'हिं ! ओम्, खावें, ओम्, पीयें, ओम्, देव हमें भोजन दें. हे अन्नदेव ! हमारे लिए अन्न लाओ, हमारे लिए इसे लाओ, ओम्.' इस मज़ाक में सामगायक पेट के लिए यज्ञ के वक़्त एक के पीछे एक दूसरे अगलों का वस्त्र पकड़े हुए पुरोहितों के साम-गायन की नक़ल उतारी गई है.[6]

देबीप्रसाद राहुल के इस मत से बिल्कुल विपरीत मत रखते हुए श्वान का अर्थ गणचिह्न के रूप में करते हैं और बक दाल्भ्य द्वारा देखे गये दृश्य को श्वान गणचिह्नवाले जन द्वारा अन्न के लिए किये जानेवाले कर्मकाण्ड (मैज़िक) के रूप में वर्णित करते हैं. दरअसल, इसी प्रसंग के जरिये वे प्राचीन गणों, गणचिह्नों, गणपतियों तथा तंत्र की दुनिया में दाख़िल होते हैं.

इसी तरह, गणक्षेत्रों में कृषि के प्रसार में ब्राह्मणों की भूमिका के प्रश्न पर वे **डी.डी. कोसाम्बी** (1907-1966) द्वारा **'एन इंट्रोडक्शन टु द स्टडी ऑफ इंडियन हिस्ट्री**' (1956) में व्यक्त विचारों से सहमत नहीं है. कोसाम्बी जहाँ इस प्रक्रिया में पंचांग तथा कृषि ज्ञान से लैस ब्राह्मणों की पथ-प्रदर्शक भूमिका देखते हैं और इसे मुख्यतः एक शान्तिपूर्ण क्रान्ति मानते हैं, वहीं देबीप्रसाद ब्राह्मणों को यह श्रेय देने से इन्कार करते हैं. वे गणों में फूट डालने और उनके ख़िलाफ़ हिंसक अभियानों में ब्राह्मणों की अग्रणी भूमिका रेखांकित करते हैं.

अन्त में, देबीप्रसाद के सामने सबसे बड़ी चुनौती इतने बिखरे साक्ष्यों और सूत्रों को एक सुसंगत, व्यवस्थित रूप देना था, दुनिया भर के प्राचीन समाजों के अध्ययनों को खंगालना और उन समाजों के रीति-रिवाज़ों के साथ प्राचीन भारतीय समाज का तुलनात्मक अध्ययन करना और प्राचीन भारतीय भौतिकवादी जीवन-दर्शन को समुचित गरिमा प्रदान करना था. यह कार्य उन्होंने कितनी दक्षता के साथ संपन्न किया है, इसे किताब का पाठक आसानी से लक्षित कर सकता है. प्रस्तुतीकरण की उनकी दिलचस्प पद्धति न सिर्फ अपने इतिहास और दर्शन के हमारे ज्ञान को समृद्ध करती है, बल्कि एक आख्यान का आनंद भी प्रदान करती है. प्रस्तुतीकरण की इस दिलचस्प शैली का कारण यह है कि देबीप्रसाद बांग्ला के साहित्यकार भी थे- कॉलेज़ के दिनों में ही वे एक उभरते कवि के रूप में स्थापित हो चुके थे. (40 के दशक के शुरुआती वर्षों में) वे प्रगतिशील लेखक संघ से जुड़ गये थे. बंगाल के प्रख्यात कवि **बिष्णु डे** (1909-1982) के साथ काम करने के साथ-साथ, बाल-साहित्य के लेखक के रूप में अनेक कहानियाँ, उपन्यास, लोकप्रिय विज्ञान-साहित्य आदि लिखकर उन्होंने पर्याप्त ख्याति हासिल की थी. अपने भाई **कामाक्षीप्रसाद** के साथ मिलकर उन्होंने बच्चों की एक पत्रिका '**रंगमशाल**' का सम्पादन-संचालन किया था और एक चर्चित साहित्यिक पत्रिका '**संकेत**' का संपादन भी. वैसे 'संकेत' कुछ ही दिनों बाद बंद हो गई. 'लोकायत' पहले बांग्ला में 1956 में प्रकाशित हुई थी- 1959 में अँग्रेज़ी में प्रकाशित इसी शीर्षक की क़िताब उस बांग्ला क़िताब का अँग्रेज़ी अनुवाद नहीं है, बल्कि पूरी तरह फिर से मूल अँग्रेज़ी में लिखी गई क़िताब है.[7]

पुनर्रचना की पृष्ठभूमि

प्रत्येक सामाजिक-राजनीतिक आन्दोलन सामाजिक-राजनीतिक परिवर्तन को अंज़ाम देने के साथ-साथ समाजशास्त्र, इतिहास, दर्शन- ज्ञानानुशासन के लगभग सभी क्षेत्रों में नये शोध-अनुसंधान का प्रेरणा-स्रोत साबित होता है. इन शोध-अनुसंधानों से इतिहास के लुप्त हो गये अथवा विस्मृत पन्नों को नये सिरे से जाँचा-परखा जाता है, अनेक स्थापित वर्चस्वशाली मान्यताओं को चुनौती दी जाती है, घटनाओं को देखने-समझने की हमारी दृष्टि परिष्कृत होती है, और कुल मिलाकर हमारी बौद्धिक विरासत, हमारा ज्ञान-कोश समृद्ध होता है. स्वतंत्रता आन्दोलन, आदिवासी समुदायों के तथा दलित और पिछड़े वर्गों के आन्दोलन- सभी का हमारे वैचारिक जगत के निर्माण में कितना योगदान रहा है, इसे पिछले क़रीब सौ-डेढ़ सौ वर्षों में अपने देश में हुए बौद्धिक कार्यों का अध्ययन करनेवाला कोई भी शोधार्थी सहज ही रेखांकित कर सकता है. ये बौद्धिक शोध-अनुसंधान सामाजिक पुनर्रचना के हमारे भावी प्रयासों को निर्देशित करने में अहम भूमिका निभाते हैं.

बीसवीं सदी का तीस-चालीस-पचास का दशक विश्वव्यापी पैमाने पर और भारत में भी कम्युनिस्ट आन्दोलन के उभार का दौर था. इस आन्दोलन से प्रभावित अनेक बुद्धिजीवी मार्क्सवादी ऐतिहासिक भौतिकवादी दृष्टि से अपने-अपने देशों के इतिहास, समाज और दर्शन के क्षेत्र में शोध-अनुसंधानों के जरिये बौद्धिक जगत में अपनी प्रभावकारी दावेदारी प्रस्तुत कर रहे थे.

युवा देबीप्रसाद 1940 के दशक के शुरुआती दिनों में ही कम्युनिस्ट आन्दोलन से जुड़ गये थे. बंगाल के प्रख्यात बुद्धिजीवी (‘**फ्रंटियर**’ के संस्थापक-संपादक और कवि) **समर सेन** (1916-1987) ने उनका परिचय **कम्युनिस्ट घोषणापत्र** से कराया था. देबीप्रसाद 1944 में भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के सदस्य बन गये. समर सेन से उनकी मित्रता जीवन-पर्यन्त बनी रही. 1940 के दशक का उत्तरार्ध कम्युनिस्ट नेतृत्व में बड़े-बड़े मज़दूर तथा

किसान आन्दोलनों का काल था. 1950 के दशक में कम्युनिस्ट पार्टी भारत में प्रमुख विपक्षी पार्टी थी और 1959 में केरल में उनकी सरकार भी बनी.

1951 में बंगाल के प्रख्यात कम्युनिस्ट नेता **भवानी सेनगुप्त** ने उन्हें मार्क्सवादी नज़रिये से प्राचीन भारतीय दर्शन का अध्ययन करने का सुझाव दिया था. 1952 में देबीप्रसाद ने द्वंद्वात्मक भौतिकवाद को लोकप्रिय बनाने के उद्देश्य से '**मार्क्सवाद**' शीर्षक से (बांग्ला में) एक पुस्तिका भी लिखी थी.

कहने की ज़रूरत नहीं कि 'लोकायत' की रचना के पीछे सबसे प्रमुख प्रेरणा-स्रोत **कार्ल मार्क्स** (1818-1883) और **फ्रेडरिक एंगेल्स** (1820-1895) की रचनाएँ थीं- ख़ासकर फ्रेडरिक एंगेल्स की '**परिवार, निजी सम्पत्ति और राज्य की उत्पत्ति**'. गण-समाज, मातृ-सत्ता, मातृ-सत्ता से पितृ-सत्ता में संक्रमण, शारीरिक श्रम तथा मानसिक श्रम का विभाजन और भाववादी दृष्टिकोण का उद्भव जैसे विषयों पर वे मार्क्स-एंगेल्स के निष्कर्षों को ही अपना प्रस्थान-बिन्दु बनाते हैं. ऐसे कुछ निष्कर्षों की बानगी नीचे दी गई टिप्पणी में देखी जा सकती है.[8]

उनकी रचना का दूसरा महत्वपूर्ण स्रोत 1877 में प्रकाशित **ल्यूईस हेनरी मौर्गन** (1818-1881) की किताब '**एंशिएण्ट सोसायटी**' है. यही किताब फ्रेडरिक एंगेल्स की 'परिवार, निजी सम्पत्ति और राज्य की उत्पत्ति' का भी महत्वपूर्ण स्रोत थी. इस किताब में भी मौर्गन ने **लिखित इतिहास के प्रागैतिहासिक आधार को पुनर्निर्मित करने** का प्रयास किया था. इस अध्ययन के महत्व को रेखांकित करते हुए एंगेल्स लिखते हैं, 'मौर्गन की महानता इस बात में है कि उन्होंने मोटे रूप में हमारे लिखित इतिहास के इस प्रागैतिहासिक आधार का पता लगाया और उसका पुनर्निर्माण किया. उनकी महानता इस बात में भी है कि उन्होंने उत्तरी अमरीका के आदिवासियों के यौन-संबंधों पर आधारित जन-समूहों के रूप में वह कुंजी ढूँढ़ निकाली जिससे प्राचीनतम यूनानी, रोमन तथा जर्मन इतिहास की सबसे महत्वपूर्ण तथा अभी तक अबूझ बनी हुई पहेलियों को सुलझाया जा सकता था. परन्तु उनकी पुस्तक एक दिन का काम नहीं थी. लगभग चालीस वर्ष तक, जब तक कि वह अपनी सामग्री को पूरी तरह समझ लेने में कामयाब न हो गये, वह उसके साथ जूझते रहे.

यही कारण है कि उनकी पुस्तक हमारे काल की इनी-गिनी युगान्तरकारी रचनाओं में से एक है.'[9]

देबीप्रसाद की रचना का तीसरा स्रोत 1950 के दशक में प्रकाशित (और इसी विषय से संबंधित) कुछ चर्चित कृतियाँ थीं. इस सिलसिले में पहला नाम ब्रिटिश मार्क्सवादी विचारक **ज़ॉर्ज थॉमसन** (1903-1987) की क़िताब '**स्टडीज़ इन एंशिएण्ट ग्रीक सोसायटी**' का लिया जा सकता है. इस क़िताब का दूसरा खण्ड लंदन से 1955 में प्रकाशित हुआ (इसका पहला खण्ड 1949 में प्रकाशित हो चुका था). थॉमसन इसके पहले '**ऐशचिलस एण्ड एथेंस**' (लंदन, 1941) और '**रिलीज़न**' (लंदन, 1950) लिखकर पर्याप्त ख्याति अर्जित कर चुके थे. अगले वर्ष (1956 में) ब्रिटिश बायोकेमिस्ट, इतिहासकार और चीन विशेषज्ञ **ज़ोसेफ़ नीढम** (1900-1995) की बहुचर्चित-बहुप्रशंसित रचना '**साइंस एण्ड सिविलाइज़ेशन इन चाइना**' का दूसरा खण्ड भी प्रकाशित हुआ. इन दोनों लेखकों तथा उनकी क़िताबों का देबीप्रसाद पर कितना प्रभाव था, यह उनकी 'लोकायत' में स्पष्ट देखा जा सकता है. थॉमसन और नीढम के साथ उनके पत्राचार में भी इसका ब्यौरा मिलता है. नीढम की क़िताब देबीप्रसाद की बाद की कुछ रचनाओं का भी प्रेरणा-स्रोत थी.

1950 के दशक की कुछ और कृतियाँ जिन्हें लोकायत की पृष्ठभूमि में रखा जा सकता है, वे हैं- डी.डी. कोसाम्बी की '**एन इंट्रोडक्शन टु द स्टडी ऑफ़ इंडियन हिस्ट्री**' (बॉम्बे, 1956), **वी. गॉर्डन चाइल्ड** (1892-1957) की '**न्यू लाइट ऑन द मोस्ट एंशिएण्ट ईस्ट**' (लंदन, 1954) और '**व्हाट हैपेण्ड इन हिस्ट्री**' (लंदन, 1957), फ़्रांसीसी सर्ज़न, सामाजिक-मानवशास्त्री और उपन्यासकार **रॉबर्ट ब्रिफ़ॉउ** (1876-1948) की '**द मदर्स**' (लंदन, 1952, यह क़िताब मूल रूप से 1931 में प्रकाशित हुई थी), **ए एल बैशम** की '**हिस्ट्री एण्ड डॉक्ट्रीन्स ऑफ़ द आज़ीवकाज़**' (लंदन, 1951), आदि.

यह थी देबीप्रसाद चट्टोपाध्याय की 'लोकायत : ए स्टडी इन एंशिएण्ट इंडियन मैटेरियलिज़्म' की पृष्ठभूमि. **'लोकायत' भारतीय कम्युनिस्ट आन्दोलन की महत्वपूर्ण बौद्धिक उपलब्धि थी और भारतीय दार्शनिक परम्पराओं की बहुलता के बीच लोकायत**

को उसका सम्मानजनक स्थान दिलाने तथा उसे हमारी साझा वैचारिक विरासत का महत्वपूर्ण घटक बनाने का श्रेय इसे ही जाता है.

देबीप्रसाद का यह मौलिक शोध-अनुसंधान 'लोकायत' के प्रकाशन के बाद भी जारी रहा. आगे की उनकी रचनाओं पर सरसरी निग़ाह डालने से ही उनके असाधारण रचना-कर्म का अंदाज़ा लगाया जा सकता है : पत्रिका *'इंडियन स्टडीज़: पास्ट एण्ड प्रेज़ेण्ट'* का संपादन (1959-1973); '*इंडियन एथेइज़्म*'' (1969); *'व्हाट इज़ लीविंग एण्ड व्हाट इज़ डेड इन इंडियन फ़िलोसॉफ़ी*'' (1976); '*साइंस एण्ड सोसायटी इन एंशिएण्ट इंडिया*'' (1977); '*लेनिन द फ़िलोसॉफ़र*' (1979); '*हिस्ट्री ऑफ़ साइंस एण्ड टेक्नोलॉज़ी इन एंशिएण्ट इंडिया*'' (तीन खण्डों में क्रमशः 1986, 1991 और 1996 में प्रकाशित, तीसरा खण्ड मरणोपरान्त प्रकाशित); '*इन डिफ़ेंस ऑफ़ मैटेरियलिज़्म इन एंशिएण्ट इंडिया*'' (1989); '*ग्लोबल फ़िलोसॉफ़ी फ़ॉर एवरीमैन*'' (1990-91, आठ खण्डों में प्रकाशित इस ग्रंथमाला की योजना उनकी ही बनाई थी, उन्होंने इसका संपादन किया था और इसका तीन खण्ड उन्हीं का लिखा था); उन्होंने **लामा तारानाथ** के तिब्बती ग्रंथ के पहले अँग्रेज़ी अनुवाद '*हिस्ट्री ऑफ़ बुद्धिज़्म इन इंडिया* ' का संपादन किया (इसका अनुवाद **लामा चिम्पा** के साथ मिलकर उनकी पत्नी **अलका चट्टोपाध्याय** ने किया था); उनकी एक महत्वाकांक्षी योजना '*स्टडीज़ इन इंडियन कल्चर*' शीर्षक से एक ग्रंथमाला के संपादन की थी, हालांकि इसका एक ही खण्ड 1992 में प्रकाशित हो सका. उनका संपूर्ण रचना-कर्म पचास खण्डों से भी ज़्यादा माना जाता है. दर्शन तथा विज्ञान के इतिहास के क्षेत्र में उनके योगदान के लिए 1998 में उन्हें (मरणोपरान्त) पद्मभूषण से सम्मानित किया गया. अपने रचना-कर्म में वे हमेशा अपने कनिष्ठ और वरिष्ठ सहयोगियों को शामिल करते. कहने की ज़रूरत नहीं कि उनका असाधारण बौद्धिक उद्यम किसी भी शोधार्थी के लिए प्रेरणादायी है.

'लोकायत' की कई प्रस्थापनाओं पर विद्वानों के बीच, यहाँ तक कि मार्क्सवादी बुद्धिजीवियों के बीच भी, काफ़ी विवाद रहा है. देह और आत्मा, भूत और भाव, वस्तु और चेतना के पारस्परिक अन्तर्संबंध, चेतना की स्वायत्तता जैसे प्रश्न दार्शनिकों के बीच; गणसमाजों, मैज़िक, मातृसत्ता-पितृसत्ता और जनपदीय कृषि समाजों के संबंधों के प्रश्न पर

मानवशास्त्रियों के बीच; हड़प्पा और वैदिक संस्कृतियों, आर्य-अनार्य संबंधों को लेकर इतिहासकारों के बीच; जाति-प्रथा के उद्भव और उसके जड़ीभूत होने को लेकर समाजशास्त्रियों के बीच चलनेवाले विवादों का कुछ विवरण तो उनकी पुस्तक में भी उपलब्ध है. यहाँ हमारा उद्देश्य इन विवादों में, या 'लोकायत' की किसी समीक्षा में जाना नहीं है. इन विवादों तथा इन प्रश्नों पर देबीप्रसाद के पक्ष से असहमति रखनेवाले अनेक देशी-विदेशी विद्वान भी इस पुस्तक के महत्व को रेखांकित करने से नहीं चूकते और 'लोकायत' की पुनर्रचनात्मक व्याख्या के उनके शोधपूर्ण कार्य की सराहना करते हैं. अपनी भूमिका में देबीप्रसाद ख़ुद ऐसा रचनात्मक विमर्श आमंत्रित करते हैं.

लोकायत आज

'लोकायत' महज़ एक बौद्धिक उपलब्धि नहीं है- उसकी पुनर्रचना हमारे सामाजिक जीवन में एक सक्रिय हस्तक्षेप है. वैदिक, जैन तथा बौद्ध ग्रंथों में, अनेक प्राचीन साहित्यिक कृतियों में, कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' से **बाणभट्ट** के 'हर्षचरित' तक, 'महाभारत' से लेकर मध्वाचार्य तक यदि हमें एक विचार-प्रणाली के रूप में लोकायत की चर्चा मिलती है, तो इसका सीधा अर्थ है कि गणसमाजों के विघटन और सामाजिक रूप से वर्चस्वशाली शक्तियों द्वारा निन्दित होने तथा दबाये जाने के बावज़ूद इस विचार-प्रणाली की सक्रिय उपस्थिति बनी हुई थी- इसे मिटाया नहीं जा सका था, न ही यह परम्परा लुप्त हुई थी. **इसके नाम में ही इसकी जीवंतता का राज़ छिपा था- लोक है तो लोकायत भी है. यह लोक से आवयविक रूप से जुड़ी विचार-प्रणाली थी. वैचारिक स्तर पर यह मानवजाति का लोक-पक्ष है.** हमारे आज के सामाजिक जीवन में भी इसकी सक्रिय उपस्थिति बनी हुई है. यहाँ हम विज्ञान, समाज तथा विचार के क्षेत्र में लोकायत की उपस्थिति पर सरसरी निग़ाह डाल सकते हैं (वैसे यह प्रसंग तो काफ़ी विस्तार की मांग करता है, तथापि हम कुछेक उदाहरणों तक ही ख़ुद को सीमित रखेंगे).

1. प्रकृति में **सह-संबंधों** की खोज और प्राकृतिक क्रियाओं का **अनुकरण**- प्राचीन जन इसी के ज़रिये प्राकृतिक क्रियाओं को नियंत्रित कर अपनी भौतिक ज़रूरतों को पूरा करने का प्रयास करते थे. सह-संबंध और अनुकरण, यही उनके **मैज़िक** का आधार था, और इसी मैज़िक से **आदिम विज्ञान तथा तकनीक** का विकास हुआ. (साथ ही आदिम मिथ्या-विश्वासों का भी- सह-संबंध तथा अनुकरण को उसके सापेक्ष संदर्भ से अलग कर सार्विकता प्रदान करना ही मिथ्या-विश्वास है.)

सह-संबंध तथा अनुकरण आधुनिक विज्ञान का भी आधार है. कृत्रिम बुद्धि (आर्टिफ़िशियल इंटेलिज़ेंस, एआइ) का सर्वाधुनिक विज्ञान इसी सह-संबंध तथा अनुकरण

के आधार पर मस्तिष्क की क्रियाओं को मशीन में स्थानान्तरित करने, **चेतना-संपन्न मशीनों** के निर्माण में लगा है. **धर्मेन्द्र मोढ़ा** के नेतृत्ववाले *आइबीएम कॉग्निटिव कम्प्यूटिंग ग्रुप* ने ऐसे चिप का निर्माण किया है जो मस्तिष्क की कोशिकाओं और उनके सह-संबंधों का हू-ब-हू अनुकरण करता है- ये चिप नये संबंध बनाने की क्षमता से भी युक्त हैं.[10]

लोकायतिक चेतना को वस्तु- पृथ्वी, जल, वायु और अग्नि, इन चार भूतों - से उत्पन्न मानते थे. अब बात चार स्थूल भूतों से क्वार्क और इलेक्ट्रॉन जैसे अतिसूक्ष्म भूतों तक जा पहुँची है. **मैक्स टेगमार्क** लोकायतिकों जैसी शब्दावली का ही प्रयोग करते हुए लिखते हैं, 'एक चेतन व्यक्ति भी अन्न ही है, एक पुनर्संयोजित अन्न... भौतिकी से हमें ज्ञात होता है कि अन्न और कुछ नहीं बल्कि एक विशिष्ट रूप में संयोजित क्वार्क और इलेक्ट्रॉन का समूह है- फिर कौन सा संयोजन चेतन है और कौन नहीं? .. भौतिक शरीर और अभौतिक आत्मा जैसे द्वैत में अब वैज्ञानिकों की दिलचस्पी नहीं रह गई है.'[11]

इसी तरह, सारे सूक्ष्म कण सूचनाओं के वाहक होते हैं- दर्शन की भाषा में हम उन्हें अपनी-अपनी समृतियों के वाहक भी कह सकते हैं. इटली के न्यूरोसाइंटिस्ट **ग्युलियो तोनोनी** चेतना की व्याख्या समेकित सूचना के रूप में करते हैं. अगर दो सूचनाएँ अलग-अलग हैं तो समेकित सूचना शून्य होगी, और अगर सूचनाएँ अनन्त हैं तो समेकित सूचना के रूप में हमें अनन्त ही प्राप्त होगा. चेतना इस शून्य और अनन्त के बीच समेकित सूचनाओं की किसी विशिष्ट स्थिति का उत्पाद है. वैसे अनेक वैज्ञानिक तोनोनी के इस **समेकित सूचना सिद्धान्त** (इंटीग्रेटेड इंफ़ॉरमेशन थियरी) से सहमत नहीं हैं.[12]

बहरहाल, आज भी सापेक्ष सह-संबंधों तथा अनुकरण को सार्विकता प्रदान की प्रवृत्ति आधुनिक मिथ्या-विश्वासों को जन्म दे रही है. कृत्रिम बुद्धि के विभिन्न घटकों के लिए विशिष्ट ऐलगोरिद्म के विकास में लगे कुछ वैज्ञानिक अपनी सापेक्ष सफलताओं से इतने गद्गद् हैं जैसे पूरी सृष्टि की कुंजी उनके हाथ लग गई है. वे उसी कुंजी- मास्टर ऐलगोरिद्म- को पाने और सृष्टिकर्ता बनने के प्रयास में लगे हैं. क़रीब चार सौ साल पहले गणित-आधारित भौतिकी की सफलता से **गेलीलियो गैलिली** (1564-1642) इतने अभिभूत थे कि उन्होंने भी कुछ ऐसा ही कहा था- 'प्रकृति क्या है? गणित की भाषा में लिखी एक क़िताब! और क्या?'[13]

मामला महज़ इन आधुनिक मिथ्या-विश्वासों का नहीं है. **आधुनिक विज्ञान को भी लोक-कसौटी से गुज़रना है.** कृत्रिम बुद्धि के विकास से संबंधित प्रयोगों पर कुछेक महाकाय टेक कॉरपोरेट घरानों का वर्चस्व है. **हमारे सामने वास्तविक ख़तरा लोक-चेतना के हरण के साथ मशीनों को चेतना-संपन्न करने का है.**

2. सामाजिक क्षेत्र में आज वर्चस्वशाली शक्तियाँ (अन्तर्धामिक विवाहों के ख़िलाफ़ हिंसक अभियान छेड़कर) **गाय के टोटेम** के अन्तर्गत हिन्दुओं को एक आक्रामक अन्तर्विवाही कबीले में ज़बरन संगठित करने की प्रतिगामी मुहिम चला रही हैं- इस मुहिम के कारण शताब्दियों के दौरान अपने जीवनयापन के उत्पादक क्रियाकलापों के क्रम में विभिन्न समुदायों तथा मतावलम्बियों के बीच संबंधों के जो हज़ारों सूत्र बने, उन्हें तार-तार करने की कोशिश की जा रही है, और इसका सबसे ज़्यादा ख़ामियाज़ा हमारे समाज के उत्पादक समुदायों को भुगतना पड़ रहा है. **यह लोक के विघटन की कोशिश है.** इस प्रतिगामी विघटनकारी अभियान ने हमारे सामाजिक ताने-बाने को पहले ही काफ़ी क्षति पहुँचायी है- इस सामाजिक विघटन में संकटग्रस्त देवतुल्य (वित्तीय) पूँजी को भी अपनी प्रतिरक्षा और अपना वर्चस्व बनाये रखने की संभावना दिखायी देती है. लोक के विघटन की यह प्रतिगामी कोशिश तमाम तरह के दकियानूसी, कूपमण्डूक, विज्ञान-विरोधी प्रवृत्तियों के प्रोत्साहन तथा महिमामण्डन के साथ उपस्थित हुई है.

3. विचार के क्षेत्र में, तर्क-बुद्धिसंगत ज्ञान की जगह शास्त्र-प्रामाण्यवाद का डंका पीटा जा रहा है- शास्त्रों को ज्ञान का एकमात्र साधन ('शास्त्रयोनित्वात्'[14]) बताया जा रहा है. सारे सांसारिक कार्यों को किसी शास्त्रोक्त लक्ष्य के लिए 'समर्पित' करने का समारोह मनाया जाता है, और इस कथित शास्त्रोक्त लक्ष्य के नाम पर संविधान, कानून तथा संस्थाओं को तहस-नहस करने को औचित्य प्रदान किया जाता है. **संविधान को शास्त्र के अधीन लाने की यह ख़तरनाक कोशिश एक निरंकुश तंत्र का मार्ग प्रशस्त करने की पूर्वपीठिका है, और हिंसक कार्रवाइयों को 'पवित्रता' की महिमा प्रदान करना है.**

बहरहाल, 'शास्त्र', 'शास्त्र' का शोर मचानेवालों को दरअसल शास्त्रों से कुछ लेना-देना नहीं है. प्राचीन काल से ही ऐसा करनेवाले शास्त्रों पर किसी संवाद को वितण्डावाद कहकर उससे पीछा छुड़ाते रहे हैं- लिखित शास्त्र से उनका काफ़ी पुराना बैर है. उनके लिए

उनके स्वनामधन्य त्राणकर्ता का वचन ही शास्त्र है. ऐसे 'उद्धारक' देवी माँ के बुलावे पर आते हैं (इसलिए लोक के प्रति वे जवाबदेह नहीं होते), उन्हें ईश्वरीय कार्यभारों को पूरा करना होता है, वे 'देवासुर संग्राम' में देवताओं का नेतृत्व करते हैं, और उनका लक्ष्य भारत को 'असुरों' से मुक्त कर 'पुण्यभूमि' बनाना है. कहाँ यह 'दैवी' कार्यभार और कहाँ संविधान आदि की लौकिक तुच्छ बातें !

दरअसल, वर्चस्वशाली शक्तियाँ शास्त्र की आड़ में अपनी निरंकुशता और हिंसा को औचित्य प्रदान करती रही हैं. **समाज के विकास-क्रम में शास्त्र और लोक का जो स्वाभाविक अन्तर्गुंथन होता रहा है, वह उनकी नज़र में शास्त्र का विकृतीकरण है- समय-समय पर लोक-स्पर्श से दूषित शास्त्र को 'शुद्ध' करने का कर्मकाण्ड वे उग्र अभियान के रूप में चलाते आये हैं.**

उनका शास्त्र लोक के विरुद्ध अनवरत् हिंसक अभियान है.

इस प्रकार, आज हमारे सामने लोक को चेतना-शून्य करने, लोक को विघटित करने और लोक के विरुद्ध अनवरत् हिंसक अभियान का मुक़ाबला करने की चुनौती है.

* * *

'लोकायत' के प्रकाशन के बाद के साठ वर्षों के दौरान दुनिया काफ़ी बदल चुकी है. इंटरनेट के क़रीब पचास साल तथा पर्सनल कम्प्यूटर के क़रीब चालीस साल हो रहे हैं. इस साल वर्ल्डवाइडवेब की तीसवीं सालगिरह मनाई जा रही है. इन आविष्कारों और उपकरणों ने कितनी तेजी से हमारे जीने का रंग-ढंग बदल डाला है, यह बताने की ज़रूरत नहीं है.

इन युगान्तरकारी परिवर्तनों के दौर में **लोक भी पुनर्संयोजित और पुनर्संगठित होने की प्रक्रिया से गुज़र रहा है**- नया लोकायत इस पुनर्संयोजन की प्रक्रिया का उत्पाद है और उसे इस पुनर्संगठन की सुदृढ़ वैचारिकी भी बननी है. पूरे विश्व में, और अपने देश में भी, ऊपर वर्णित चुनौतियों के समक्ष नये लोकायत की वैचारिकता के ताने-बाने बुने जा रहे हैं. बहरहाल, **लोक है तो लोकायत भी रहेगा, और लोकायत है तो 'लोकायत' के देबीप्रसाद की स्मृति भी रहेगी.**

अन्त में, उनके निधन के बाद *इंडियन इंस्टीट्युट ऑफ़ साइंस* के एक प्राध्यापक द्वारा उनकी स्मृति में लिखे गये एक लेख का यह अंश प्रस्तुत है : 'देबीप्रसाद को भारत के

विज्ञान पर भरोसा था- राष्ट्रीय तथा वैश्विक पैमाने पर इसके योगदान की विराट संभावना को तो वे महसूस करते ही थे, साथ ही उनका यह मानना था कि विज्ञान का व्यवहार एक सकारात्मक विचारधारा को भी आमंत्रित करता है. इस देश को वे बेहद प्यार करते थे, इसलिए ऐसी सकारात्मक विचारधारा को वे देश तथा जनता को बांटनेवाली सम्प्रदायवादी शक्तियों, पोंगापंथियों और अन्य अंध तथा विघटनकारी प्रवृत्तियों से बचानेवाला एकमात्र संभव ढाल मानते थे. इस देश के लिए, उसकी जनता और विज्ञान की ख़ातिर उन्होंने अपना जीवन - एक दिलचस्प, विविध रंगों तथा उपलब्धियों से भरा-पूरा जीवन - समर्पित कर दिया था. निधन से वे इतिहास का हिस्सा ज़रूर हो गये हैं, लेकिन उनका जीवन, उनके विचार और सर्वोपरि उनकी प्रतिबद्धता .. सत्य का अनुसंधान करनेवाले जिज्ञासुओं के मार्ग को आनेवाली पीढ़ियों में हमेशा रोशन करती रहेगी.'[15]

टिप्पणियाँ

1. *महाभारत* (संवत् 2026), पञ्चम खण्ड, शान्ति पर्व के अन्तर्गत राजधर्मानुशासन पर्व : 4519-21.
2. सर्वपल्ली राधाकृष्णन (1941), *इंडियन फ़िलोसॉफ़ी*, खण्ड 1, भाग 2, द *एपिक पीरियड*, अध्याय 5, *मैटेरियलिज़्म* : 282-283.
3. *ब्रह्मसूत्र* (2001), 3.3.53-54 : 363-364.
4. देबीप्रसाद चट्टोपाध्याय (1959), *लोकायत ए स्टडी इन एंशिएण्ट इंडियन मैटेरियलिज़्म*. ऊपर वर्णित लगभग सारे प्रसंग इसी पुस्तक के विभिन्न अध्यायों से लिये गये हैं.
5. वही, *इंट्रोडक्शन* : xii.
6. राहुल सांकृत्यायन (1944), *दर्शन दिग्दर्शन*, अध्याय 14, *प्राचीन ब्राह्मण दर्शन* : 394.
7. रामकृष्ण भट्टाचार्य (2010), *रिमेम्बरिंग देबीप्रसाद चट्टोपाध्याय* : *फ़िफ़्टी ईयर्स ऑफ़ लोकायत*, फ़्रण्टियर, खण्ड 43, अंक 12-15.
8. शारीरिक और मानसिक श्रम का विभाजन तथा भाववादी विश्व-दृष्टि का उद्भव : 'प्रत्येक व्यक्ति ही में नहीं, बल्कि समाज में भी हाथों, स्वरांगों और मस्तिष्क के सामंजस्य से मानव अधिकाधिक पेचीदे कार्य करने के तथा सतत् उच्चतर लक्ष्य अपने सामने रखने और उन्हें हासिल करने के योग्य बने. हर पीढ़ी के गुज़रने के साथ श्रम स्वयं भिन्न, अधिक परिनिष्पन्न, अधिक विविधतायुक्त होता गया. शिकार और पशुपालन के अतिरिक्त कृषि भी की जाने लगी. फिर कताई, बुनाई, धातुकारी,

कुम्भकारी और नौचालन की बारी आयी. व्यापार और उद्योग के साथ अन्ततः कला और विज्ञान का आविर्भाव हुआ. क़बीलों से जातियों और राज्यों का विकास हुआ. क़ानून और राजनीति का आविर्भाव हुआ और उनके साथ मानव मस्तिष्क में मानव-जगत के काल्पनिक दर्पण-प्रतिबिम्ब- धर्म- का उदय हुआ. प्रथमतः मस्तिष्क की उपज लगनेवाले और मानव समाजों के ऊपर छाये ज्ञात होनेवाले इन सारे सृजनों के आगे श्रमशील हाथ के अधिक साधारण उत्पादन पृष्ठभूमि में चले गये. ऐसा इस कारण से और भी हुआ कि समाज के विकास की बहुत प्रारंभिक मंजिल से ही (उदाहरणार्थ आदिम परिवार में ही) श्रम को नियोजित करनेवाला मस्तिष्क नियोजित श्रम को दूसरों के हाथों से करा सकने में समर्थ था. सभ्यता की द्रुत प्रगति का समूचा श्रेय मस्तिष्क के विकास एवं क्रियाकलाप को दे डाला गया. .. अतः कालक्रम में उस भाववादी विश्व दृष्टिकोण का उदय हुआ जो प्राचीन जगत के अन्त के बाद से तो ख़ास तौर पर मानवों के मस्तिष्क पर हावी रहा है.' कार्ल मार्क्स, फ्रेडरिक एंगेल्स (वर्ष नहीं), *संकलित रचनाएँ*, भाग 3, इसी में संकलित फ्रेडरिक एंगेल्स का लेख *वानर से नर बनने की प्रक्रिया में श्रम की भूमिका* : 15-16.

'भौतिकवादी धारणा के अनुसार, इतिहास में अन्ततोगत्वा निर्णायक तत्व तात्कालिक जीवन का उत्पादन और पुनरुत्पादन है. परन्तु यह ख़ुद दो प्रकार का होता है. एक ओर तो जीवन-निर्वाह के, भोजन, परिधान तथा आवास के साधनों तथा इन चीजों के लिए आवश्यक औज़ारों का उत्पादन होता है, और दूसरी ओर, स्वयं मनुष्यों का उत्पादन, यानी जाति-प्रसारण होता है. .. श्रम का विकास जितना ही कम होता है, तथा श्रम-उत्पादन की मात्रा जितनी ही कम होती है, और इसलिए समाज की सम्पदा जितनी ही सीमित होती है, समाज-व्यवस्था में यौन-सम्बन्धों का प्रभुत्व उतना ही अधिक जान पड़ता है. लेकिन यौन-सम्बन्धों पर आधारित इस समाज-व्यवस्था के भीतर उत्पादन-क्षमता अधिकाधिक बढ़ती जाती है, उसके साथ निजी सम्पत्ति और विनिमय बढ़ते हैं, धन का अन्तर बढ़ता है, दूसरों की श्रम-शक्ति को इस्तेमाल करने की सम्भावना बढ़ती है, और वर्ग-विरोधों का आधार तैयार होता है. .. यौन सम्बन्धों पर आधारित जन-समूहों की नींव पर खड़ा पुराना समाज नव-विकसित सामाजिक वर्गों की टक्करों में ध्वस्त हो जाता है, उसकी जगह राज्य के रूप में संगठित एक नया समाज ले लेता है, जिसकी नीचे की इकाइयां यौन-सम्बन्धों पर आधारित जन-समूह नहीं, बल्कि क्षेत्रीय जन-समूह होती हैं, जिसमें पारिवारिक व्यवस्था पूरी तरह सम्पत्ति की व्यवस्था के अधीन होती है, और जिसमें वे वर्ग-विरोध तथा वर्ग संघर्ष अब ख़ूब खुलकर बढ़ते हैं, जो अब तक के समस्त लिखित इतिहास की विषयवस्तु है. .. इस प्रकार जैसे-जैसे सम्पत्ति बढ़ती गई, वैसे-वैसे इसके कारण एक ओर तो परिवार के अन्दर नारी की तुलना में पुरुष का दर्ज़ा ज़्यादा महत्वपूर्ण होता गया, और दूसरी ओर पुरुष के मन में यह इच्छा ज़ोर पकड़ती गई कि अपनी पहले से मज़बूत स्थिति का फ़ायदा उठाकर उत्तराधिकार की पुरानी प्रथा को उलट दिया जाये ताकि उसके अपने बच्चे हक़दार हो सकें.

परन्तु जब तक मातृ-सत्ता के अनुसार वंश चल रहा था, तब तक ऐसा करना असंभव था. इसलिए आवश्यक था कि मातृ-सत्ता को उल्टा जाये, और यही किया गया. और यह करने में उतनी कठिनाई नहीं हुई जितनी आज मालूम पड़ती है. कारण कि **यह क्रान्ति, जो मानवजाति द्वारा अब तक अनुभूत सबसे निर्णायक क्रांतियों में थी** .. इस प्रकार मातृक वंशानुक्रम तथा मातृक दायाधिकार की प्रथा उलट दी गयी और उसके स्थान पर पैतृक वंशानुक्रम तथा पैतृक दायाधिकार स्थापित हुआ. .. मातृ-सत्ता का विनाश **नारी जाति की विश्व-ऐतिहासिक महत्व की पराजय थी.** अब घर के अन्दर भी पुरुष ने अपना आधिपत्य जमा लिया. नारी पदच्युत कर दी गई. वह जकड़ दी गई. वह पुरुष की वासना की दासी, संतान उत्पन्न करने का एक यंत्र मात्र बनकर रह गई.' वही, उसी में संकलित फ्रेडरिक एंगेल्स की रचना *परिवार, निजी सम्पत्ति और राज्य की उत्पत्ति* : 144-5, 204-6.

9 वही : 145.

10 रे कुर्ज़वील (2013), *हाउ टु क्रियेट अ माइण्ड : द सीक्रेट ऑफ़ ह्युमन थॉट रीवील्ड*, अध्याय 8, *द माइण्ड एज़ कम्प्यूटर* : 194.

11 मैक्स टेगमार्क (2018), *लाइफ 3.0 : बीइंग ह्युमन इन द एज़ ऑफ़ आर्टिफ़िशियल इंटेलीजेंस*, अध्याय 8, *कंशसनेश* : 284, फुटनोट 1: 335.

12 वही : 300.

13 वही : 289-90.

14 ब्रह्म-सूत्र (2001), 1.1.3 : 23.

15 एस.के. विश्वास (1993), *देबीप्रसाद चट्टोपाध्याय- द माडर्न सेज़*, करेंट साइंस, खण्ड 65, अंक 12, 10 दिसम्बर, 1993, बेंगलोर : 891.

संदर्भ-सामग्री

एस.के. विश्वास (1993), *देबीप्रसाद चट्टोपाध्याय- द माडर्न सेज़*, करेंट साइंस, खण्ड 65, अंक 12, 10 दिसम्बर, 1993, बेंगलोर .

कार्ल मार्क्स, फ्रेडरिक एंगेल्स (वर्ष नहीं), *संकलित रचनाएँ*, भाग 3, प्रगति प्रकाशन, मास्को.

दामोदर धर्मानंद कोसाम्बी (1956), *एन इंट्रोडक्शन टु द स्टडी ऑफ़ इंडियन हिस्ट्री*, पोपुलर बुक डिपो, बॉम्बे.

देबीप्रसाद चट्टोपाध्याय (1959), *लोकायत ए स्टडी इन एंशिएण्ट इंडियन मैटेरियलिज़्म*, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली.

ब्रह्मसूत्र (2001), मूल संस्कृत के साथ अँग्रेज़ी अनुवाद स्वामी वीरेश्वरानंद, अद्वैत आश्रम, कोलकाता.

महाभारत (संवत् 2026), पञ्चम खण्ड, गीता प्रेस, गोरखपुर.

मैक्स टेगमार्क (2018), *लाइफ 3.0 : बीइंग ह्युमन इन द एज़ ऑफ़ आर्टिफ़िशियल इंटेलीजेंस*, पेंग्विन बुक्स, लंदन.

रामकृष्ण भट्टाचार्य (2010), *रिमेम्बरिंग देबीप्रसाद चट्टोपाध्याय : फ़िफ़्टी ईयर्स ऑफ़ लोकायत*, फ़्रण्टियर, खण्ड 43, अंक 12-15, कोलकाता.

राहुल सांकृत्यायन (1944), *दर्शन दिग्दर्शन*, किताब महल, इलाहाबाद.

रे कुर्ज़वील (2013), *हाउ टु क्रियेट अ माइण्ड : द सीक्रेट ऑफ़ ह्युमन थॉट रीवील्ड*, डकवर्थ ओवरलुक, लंदन.

सर्वपल्ली राधाकृष्णन (1941), *इंडियन फ़िलोसॉफ़ी*, खण्ड 1, ज़ॉर्ज अलेन एण्ड अनविन लिमिटेड, लंदन.

****